उसकी कहानियां

रिनचिन

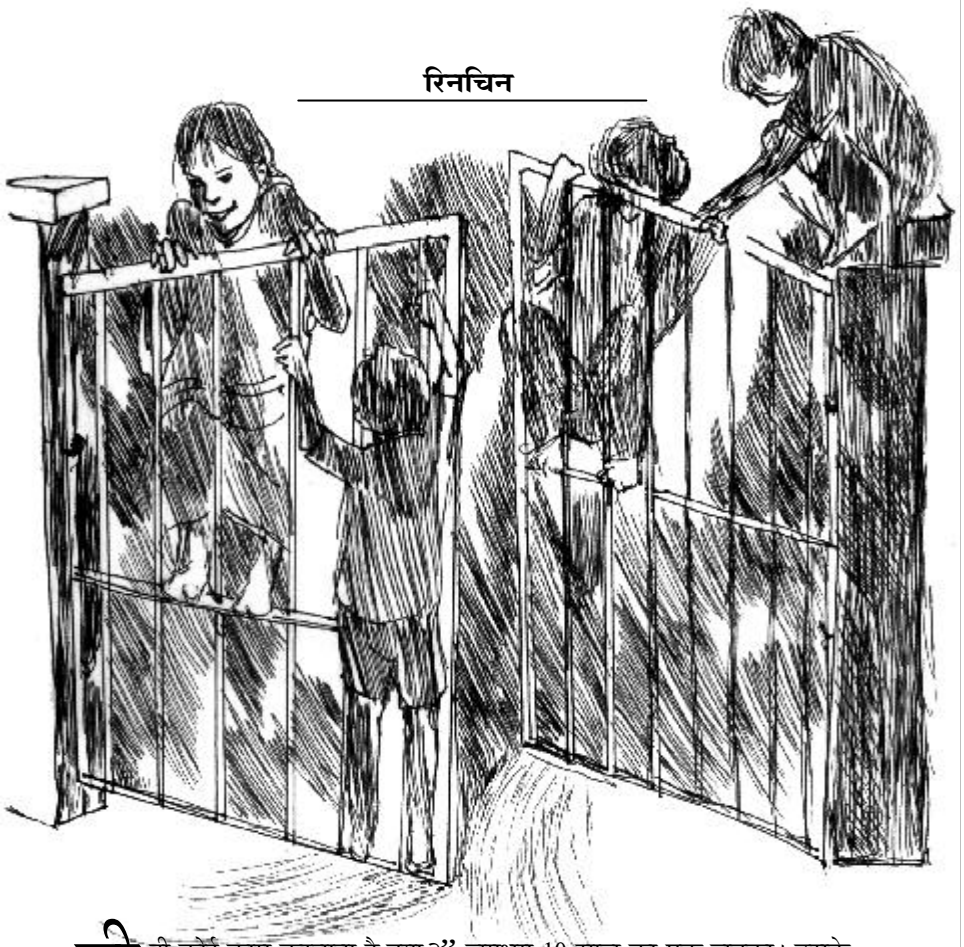

दी दी कोई काम करवाना है क्या?'' लगभग 10 साल का एक लड़का। उसके पीछे दो खी-खी करती थोड़ी बड़ी लड़कियां। ''नहीं,'' मैंने कहा था, ''कोई काम नहीं है।'' ''तो फिर पानी दे दो।''

मैं हाल ही में इस नए शहर और नए घर में रहने आई थी। काम कम था और कई सालों बाद मैं खाली दोपहरों के मज़े ले पा रही थी। या यह मेरा ख्याल था।

जल्दी ही और, और बच्चे आने लगे। वे गेट पर झूलते, काम मांगने से ज़्यादा मुझसे गपियाते हुए, "दीदी काम करवा लो। कितना गन्दा है सब तरफ। चलो साफ करते हैं।" पर बाल मज़दूरी पर मेरे विचार एकदम साफ थे और मैं स्पष्ट मना कर देती थी।

धीरे-धीरे वे गपशप करने आने लगे। अब वे गेट पर ही नहीं झूलते थे। उनकी जान-पहचान इतनी हो गई थी कि वे बारामदे में आ जाते। शायद इन बच्चों ने यह भांप लिया था कि यह घर औरों से कुछ अलग है। शायद इसीलिए वे बगीचे में बेरोकटोक घुस आते थे, गेट पर झूलते, दीवारों पर चढ़ते, बारामदे में रखी आराम कुर्सियों में डोलते। "दीदी क्या इस घर में कोई बड़ा नहीं है?" "मैं हूं और यह है।" मैंने अपनी दोस्त को दिखाकर कहा जो ऑफिस जाने के लिए तैयार खड़ी थी। "नहीं, मतलब और बड़ा... तुम्हारे मां-बाप या कोई?" "या तुम्हारा..... आदमी?" इस आखिरी बात के साथ हंसी का एक फव्वारा। "नहीं," मैं कहती। "बस हम ही हैं। काम चलेगा?" फिर हंसी छूटती। "आप हमें काम नहीं देतीं तो कुछ खाने को ही दे दो।" जल्द ही यह हमारा रोज़ का रिवाज़ बन गया। हर दुपहरी।

मैंने सोचा था कि स्कूल में गर्मियों की छुट्टियां होने के कारण ये बच्चे दोपहर में खाली घूमते हैं। कुछ बच्चों ने, खासकर लड़कों ने मुझे बताया था कि वे स्कूल जाते हैं। चूंकि मैं बच्चों के साथ समय बिता रही थी और मैं उस ज़िम्मेदारी के एहसास को झिंझोड़ नहीं पाई थी जो बच्चों के साथ काम करते हुए हम बड़े महसूस करते हैं, मैंने उनके दोपहरों को रचनात्मक बनाने की कोशिश की। जो बच्चे स्कूल जाते थे उनसे मैं पूछती कि क्या उन्हें अपने होमवर्क या स्कूल की पढ़ाई में कोई मदद चाहिए। बाकी कभी स्कूल नहीं गए थे। उनके साथ मैंने अक्षर, गिनती और कहानी पढ़ना चालू करने का तय किया। पहले मैं स्कूल जाने वालों के साथ बैठती और होमवर्क कापियों का काम पूरा करने में उनकी मदद करती। यह तो आसान था। फिर मैं उन्हें खाली स्थान भरने का काम दे देती। और जब तक वे उसमें लगे रहते, मैं स्कूल न जाने वालों से पूछती कि वे क्या करना चाहते हैं। "हमें अक्षर और गिनती लिख दो। हम लिखकर आपको वापस देंगे।" यह उनके लिए भी आसान था और मेरे लिए भी सहूलियत वाला। सो मैं एक बड़े कागज़ पर कुछ लिखकर दीवार पर चिपका

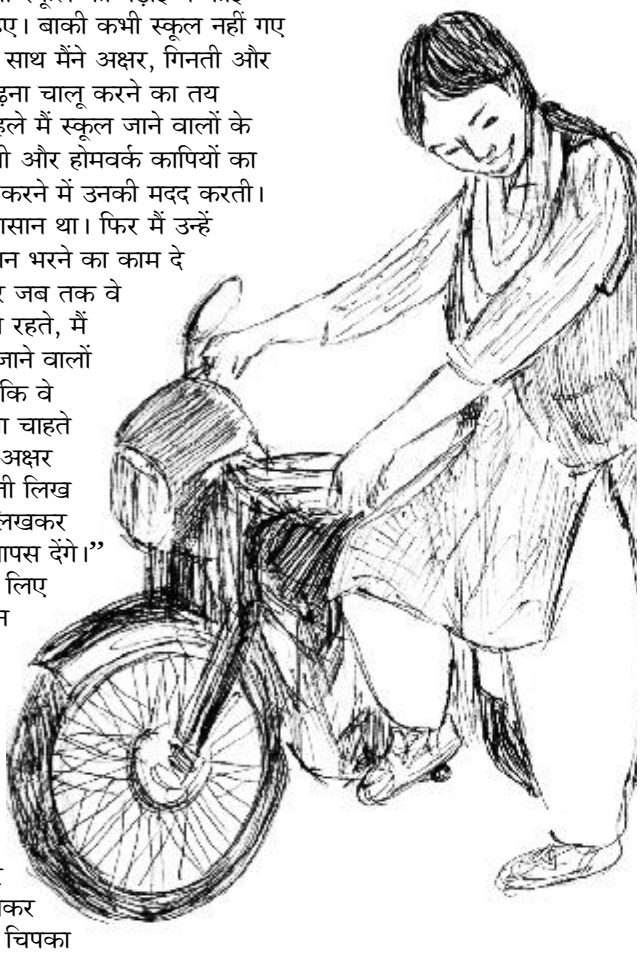

देती और वो सारे बैठ जाते, छोटे-छोटे सिर, अपने-अपने कागज़ पर उसे उतारते हुए। बहुत अच्छा। शाबाश! और मैं खुशी और आत्मतुष्टि से भरी अपना काम निपटाने चल देती। अच्छी-खासी क्लास चल रही थी। बाद में मैं कोई कहानी पढ़कर सुनाती। फिर बच्चे कुछ खाने को मांगते, पानी पीते और चले जाते।

जैसे-जैसे बच्चों की संख्या बढ़ी -अपने जोश और आलस में मैं जाकर बच्चों की अनूदित किताबों का एक पूरा सेट खरीद लाई। दुनिया भर के कहानीकारों की कहानियां -- टैगोर, टोलस्टॉय, ऑस्कर वाइल्ड, महाश्वेता देवी। और बहुत सारा सफेद कागज़ और क्रेयॉन भी। इस उम्मीद में कि बच्चे खुद अपने को व्यस्त रखेंगे, सृजन करेंगे और मज़े में रहेंगे।

धीरे-धीरे मेरा काम बढ़ने लगा। खाली दुपहरियां नदारद होने लगीं और मैं बारामदे में कम से कमतर समय बिताती थी। मैं अपने अधूरे काम के बारे में सोचते हुए बेहयाली में बाहर जाकर बच्चों के उतारने के लिए दीवार पर शब्द लिखती और जल्दी-जल्दी होमवर्क की कापियां देखती। उसी समय

बारामदे में एक छोटा-सा युद्ध चल रहा होता। मेरे देखते-देखते यह शुरू हो गया था कि जो थोड़ा-बहुत समय मैं बच्चों को देती थी उसमें से ज़्यादातर होमवर्क वाले लड़कों को जाता था। उनका काम एक ढांचे में बंधा था। उनके खाली-स्थान के सवाल भरवाए या गणित का कोई सवाल समझाया, बिना मूल बातों को समझाने की फिक्र किए, मेरे लिए भी आसान था। वे अपनी होमवर्क कॉपियों के पूरे काम से खुश थे और मैं भी। स्कूल न जाने वाले बच्चे ज़्यादा ध्यान की मांग करते थे। यूं वे अक्षर उतारने और गिनती लिखने का काम तो कर रहे थे, हालांकि कुछ तो इतना भी नहीं कर रहे थे। पर उनकी मेहनत और कोशिश उन्हें कहीं आगे नहीं ले जा रही थी। चूंकि मेरे पास उन्हें देने को ज़्यादा कुछ था नहीं, वे बोर होने लगे। जल्दी ही बड़े लड़के इस बात की शिकायत करने लगे कि लड़कियों और छोटे लड़कों के शोरगुल से उन्हें डिस्टर्ब होता है। "इनको यहां से निकालो दीदी।"

"अरे वाह, सबसे पहले तो हमने दीदी को ढूंढा था। तुम कैसे हमें निकाल सकते हो?" यह सीनम उर्फ सीमा थी। स्कूल न जाने वाले बच्चों में वह पहली थी जो यहां आई थी। गेट के पास खड़ी, बिना किसी शर्म या हिचक के उसने पूछा था, "क्या हम अंदर आ सकते हैं?" उसके पीछे छोटे लड़कों और उनसे कुछ बड़ी लड़कियों का एक हुजूम था। "हमने सुना कि आपने कल लड़कों को पढ़ने के लिए कोई किताब दी थी। हम भी सीखना चाहते हैं। क्या हम आ सक्ते हैं?"

"हां, हां।" शायद बड़े लड़कों को यह अच्छा नहीं लगा होगा पर मैंने इस पर ध्यान नहीं दिया। बड़े लड़के सीनम को तंग करते थे पर वह भी हिम्मत से डटी रहती थी। लड़कों ने शुरू से ही पूरे बारामदे पर कब्ज़ा कर लिया था। किताबें, क्रेयॉन सब उनके नियंत्रण में थे।स्कूल न जाने वाले बच्चों को

घिसे हुए क्रेयॉन के टुकड़े या इस्तेमाल किया हुआ कागज़ ही मिलता था। बारामदे की कुर्सियों पर भी वे ही जमे रहते। अगर कभी वे देर से आते तो उनके आते ही छोटे बच्चे उनके सम्मान में कुर्सियां खाली कर देते। पर सीनम ने इसको चुनौती दी और दूसरों ने उसका साथ देना शुरू कर दिया। इसी से यह युद्ध। वह लगातार मेरा ध्यान खींचने की कोशिश करती और दूसरी लड़कियों को भी ऐसा करने को उकसाती। यह सच है कि इससे मैं कई बार परेशान भी होने लगती थी। "दीदी, दीदी, आओ देखो न हमने क्या बनाया है।"

"अभी नहीं, थोड़ी देर में।"

कुछ मिनटों की चुप्पी के बाद, "दीदी देखो, रेखा क्या कह रही है। कह रही कि कि आपके बाल अच्छे हैं।"

"ये क्या फालतू बातें कर रहे हो। चुपचाप काम करो।" मैं अपनी कुर्सी से ही चिल्लाती। ज़ाहिर है गम्भीर काम और बातचीत के बारे में मेरे ख्याल एकदम जड़ थे।

"दीदी, देखो इसने मुझ पर पानी गिरा दिया।"

"ओफ, चुपचाप पढ़ो नहीं तो भागो

यहां से।'' हालांकि मैं समझती थी कि यह सब मेरे कम ध्यान देने का नतीजा था, फिर भी उन बच्चों के साथ ज़्यादा समय बिताने की बजाय मैं भी पारम्परिक प्रतिक्रियाएं ही देती रही। फिर लड़कों ने शिकायत करना शुरू किया, ''ये लोग तो कुछ नहीं करते, हमारी सीरियस पढ़ाई और डिस्टर्ब हो जाती है।''

''अरे क्या सीरियस पढ़ाई? जो दीदी बताती है वह ही तो लिखते हो।'' सीनम और उसकी टोली जल्दी आकर चटाई और कुर्सियों को घेरके बैठ जाते। जब लड़के आते तो सीनम का कुनबा उनकी धाक मानने और एक कोने में धकियाए जाने का विरोध करता। वे किताबें झपटते और कभी-कभी अपनी छीन-झपट और हंसी-खिलखिल के दौरों से इतना शोर करते कि मैं भी उन्हें चुप करने को चिल्ला पड़ती। ''अरे ये हंसना बन्द करो। ऐसे ही हंसते रहोगे तो सीखोगे कैसे?'' सीखने के बारे में हम सबके अपने ही विचार हैं, हम कितने भी आज़ाद-ख्याल क्यों न हों।

यूं मैं तो उन पर चिल्ला देती थी, पर अगर लड़के उनसे बुरा बर्ताव करते या धौंस जमाते तो मैं गुस्सा हो जाती थी। एक वक्त ऐसा आया कि लड़के मुझे दुश्मनों-सा समझने लगे -- ''हम नहीं आएंगे यहां दीदी। आप तो यह चिल्लर-चपाटा को कभी कुछ नहीं कहते। और अब तो खाली शोर होता है, पढ़ाई तो होती नहीं है।'' ''तो बैठकर उन्हें सिखाओ जो तुम्हें आता है,'' मैं पलटकर कहती, ''इस जगह पर सबका बराबर का हक है।'' इस नोक झोंक को 'चिल्लर-चपाटा' फैली निगाहों और दबी मुस्कानों के साथ देखती रहतीं। मैं उन्हें अनदेखा करने की कोशिश करती, ''और तुम सब...देख क्या रहे हो? बैठके चित्र बनाओ। अपन थोड़ी कोशिश करें कि झगड़ा न हो, प्लीज़।''

जल्दी ही बड़े लड़कों ने आना बन्द कर दिया। बारामदे पर अब लड़कियों और छोटे बच्चों का राज था। मैं पक्का नहीं बता सकती कि लड़के क्यों चले गए। हो सकता है कि उनके स्कूल खुल गए हों। हो सकता है उन्हें लगा हो कि मैं लड़कियों और छोटे बच्चों के प्रति पक्षपाती हूं। या शायद मेरी पढ़ाने की क्षमताएं उन्हें अपर्याप्त लगी हों। या फिर शायद सीनम अपनी लड़ाई जीत गई हो। या (और यह ख्याल मुझे सबसे ज़्यादा परेशान करता है) यह कि एक तरफ तो मुझे लड़कों का छोटे बच्चों पर धौंस जमाना पसन्द नहीं था, पर दूसरी तरफ मैं खुद को उन लड़कों पर दादागिरी करने से नहीं रोक पाई। हो सकता है कि ये सभी बातें मिल-जुलकर उनके चले जाने का सबब बनी हों, पर नतीजे का मुझे अफसोस था। फिर भी, इस सबके बीच एक और कली खिली -- सीनम, और उसके साथ-साथ बाकी सब भी। मेरा काम बढ़ गया था और मैं बहुत सारा समय अन्दर ही रहने लगी। बस बच्चों को कागज़ और किताबें थमा देती, इस उम्मीद में कि वे खुद अपना मन लगाए रखेंगे। धीरे-धीरे, जैसे-जैसे मैं व्यस्त होती गई, बारामदे में जाने में मुझे देरी होने लगी। इसी समय सीनम ने बागडोर सम्हाल

ली। एक स्व-नियुक्त मॉनीटर की तरह। वह मुझसे कापी-किताबें और क्रेयॉन ले लेती और अपनी क्लास शुरू कर देती। बच्चों का अपना रूटीन बन गया। वे आकर चटाई बिछाते, अपनी पानी की मटकी लेते और बैठ जाते। बाहर सड़क चलते किसी के लिए भी यह एक अदभुत नज़ारा था। लाइन से बैठे बच्चे। यह सीनम का सुझाव था - "ये लोगों को टाइट रखना है। नहीं तो बहुत शरारत करते हैं, दीदी। और आप डिस्टर्ब हो जाते हो।" क्या मैंने स्कूली शिक्षा के अपने विचार उसे दे दिए थे? या कि स्कूल की हर तरफ प्रचलित छवि उसके दिमाग में भी कहीं अटकी थी? मैंने अनौपचारिक होने के बारे में थोड़ा शोर मचाया, "इतना क्या डिसिप्लिन?" पर मैंने उसे रोकने की कोई ज़्यादा कोशिश नहीं की। बच्चों की शान्ति, कितनी भी अजीब क्यों न हो, मेरे लिए सुविधाजनक थी। दुपहरियां मोटे तौर पर सीनम के हवाले हो गई थीं।

एक तरफ मैं अन्दर काम करती, की-बोर्ड पर उंगलियां चलाती, मॉनीटर और उसके बेजान अक्षरों को घूरती। दूसरी ओर बाहर सीनम बैठी होती, अपने कुनबे के साथ। उनको पढ़कर सुनाती हुई। मैंने सीनम को बच्चों के लिए पढ़ते सुना था। मैंने सुना उसे एक शुरुआती पढ़ाकू की तरह रुक-रुक कर पढ़ते हुए। शब्दों पर उसे अटकते हुए सुनने की मैं आदी हो गई थी। एक दिन अपनी टाइपिंग से ब्रेक लेते हुए मैं कुर्सी पर टिककर बैठ गई। सीनम की कहानी रोचक मालूम पड़ती थी। मैं सुनने लगी,

"फिर मां ने बच्चों से कहा, तुम सब यहीं रहो, मैं बस में बैठकर बाज़ार जाऊंगी। जब तक मैं न लौटूं, किसी के लिए भी दरवाज़ा मत खोलना।"

यह कौन-सी किताब है?

"बच्चे रोने लगे कि शेर हमारे घर में घुस जाएगा। तब वह बूढ़ी अम्मा आई जिस पर वे सब हंसते थे। उसे जादू आता था। उसने शेर से कहा -- ये छोटे बच्चे हैं, इन्हें छोड़ दो। और उन्हें बचा लिया।" मेरे कान खड़े हो गए। थोड़ा और जानने की कुलबुलाहट में मैं दरवाज़े तक गई और जाली के पीछे खड़ी हो देखती रही। उसके सामने एक विज्ञान की किताब खुली पड़ी थी। उसमें कोई चित्र नहीं थे, बस लिखा हुआ था। और वह यह कहानी ऊर्जा के अध्याय में से पढ़कर सुना रही थी। पढ़कर सुनाने के सब रस्म निभाते हुए। वह किसी शब्द पर अटकती, उसके हिज्जे करके आगे बढ़ती, वाक्य पूरा करती, अपनी गीली उंगली से पन्ना पलटती,

फिर वापस पलटकर देखती कि वाक्य कहां छूटा था। मैं चकित थी। सीनम को पढ़ना नहीं आता था, और इतनी देर तक वह... और मैं समझती थी कि वह एकदम सही शिक्षक सहायिका थी।

अगली बार जब वे आए, मेरे सर पर कुछ काम खत्म करने की आखिरी तारीख का दबाव था। मैंने जल्दी-से किताबों का एक गट्ठा निकालकर थमा दिया। सीनम ने कहा था कि उन्हें नई किताबें चाहिए क्योंकि उन्होंने सारी पुरानी किताबें पढ़ डाली थीं। वाकई!

"अर्रे दीदी, यह क्या दे दिया। यह तो मुसलमान किताब है।" "क्या?" मैंने देखा कि मैंने उसे कुछ उर्दू किताबें दे दी थीं। "मुसलमान किताब नहीं, उर्दू है। जैसे यह हिन्दी, यह इंग्लिश, यह उर्दू।" मैंने कुछ और किताबें निकालीं -- मराठी, बांग्ला, एक गुजराती किताब भी। "देखो, यह सब अलग-अलग भाषाएं हैं," और मैंने उन्हें भाषा और लिपि पर एक छोटा-मोटा लेक्चर दे डाला। उसने सिर हिलाया, बाकियों ने भी। मैंने किताबें उसके बगल में रख दीं और वापस अन्दर चली गई। अपने काम में जुटने।

सीनम ने एक किताब उठाई और पढ़ने लगी, वह रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'तोता' का उर्दू तर्जुमा थी। "और फिर राजा ने बोला, तोते को पिंजरे में बन्द कर दो।" यहां तक तो वह चित्रों के साथ चल रही थी। फिर अचानक, "तोता बोला, हाय अल्लाह, यह क्या हो गया, मेरी अम्मी कहां है।" थोड़ी देर बाद, "फिर वे सब खुशी-खुशी घर गए और अम्मी ने बोला, चलो हम सब सिंवइयां खाते हैं।" मैं खुद को हंसने से नहीं रोक पाई। तो क्या गुजराती किताब के पात्र गरबा खेलेंगे और चनिया-चोली पहनेंगे! यानी भाषा ही संस्कृति है। कोई भी भाषा शून्य में नहीं बसती। मज़ेदार बात यह है कि वह लिखे हुए शब्दों के बन्धन तो तोड़ देती है पर संस्कृति -- जैसा कि वह उसे जानती है -- से नहीं बच पाती। सीनम और उसका कहानी सुनाना अब भी मेरे बारामदे में जारी है और मैं हर दिन कुछ नया सीखती हूं। उसकी कहानियां कल्पना और हकीकत को कितनी आसानी से मिला देती हैं, उनमें इन्सान और जानवर बातें करते हैं, बच्चे सुरंग खोदकर दूर-दूर निकल जाते हैं, माता-पिता कभी परी बन जाते हैं तो कभी बीभत्स चुड़ैल। वह यह सुनिश्चित करती है कि सुनने वाले उसके हर शब्द पर ध्यान दें और फिर कहानी को एक नया मोड़ दे देती है।

मेरे बन्द कमरे में, जिसके और सीनम के हवादार बरामदे के बीच एक जाली भर है, मैं ऐसी कहानियां लिखने की जद्दोजहद में लगी रहती हूं जो भाषा से बंधी हैं। एक नई जगह पर मेरे पात्र वह भाषा बोलने से इन्कार कर देते हैं जिससे मैं और उससे भी ज़रूरी -- मुझसे कहानियां लिखवाने वाले परिचित हैं। मेरे पात्र जो कहते और महसूस करते हैं वह लिखने के मेरे पढ़े-लिखे-शिक्षित तरीके से व्यक्त नहीं हो पाता। मैं सीनम से प्रेरणा लेती हूं और सारे बन्धन तोड़ डालने की कोशिश करती हूं।

जब मैंने अपने दोस्तों को सीनम के

बारे में बताया तो एक ने कहा, "क्या नन्हीं जालसाज़ पाई है तुमने।" "यह तो एक नन्हीं-सी जीनियस है," एक और ने कहा। "लगता है वह एक स्वाभाविक, होनहार कहानीकार है, तुम्हें उसे तैयार करना चाहिए, वह यह काम अपनी रोज़ी-रोटी के लिए कर सकती है। उसे पढ़ने की ज़रूरत ही क्या है जब उसका दिमाग उसकी अपनी कहानियों से भरा पड़ा है?" मेरे उस मित्र ने कहा। पर अब मेरा सवाल यह है कि "मैं क्या करूं?" मैं जानती हूं कि वह पढ़ नहीं सकती। और इतने दिनों से हम दोनों ही यह ढोंग कर रहे थे कि उसे पढ़ना आता है।

तो क्या मैं धीरे-से उसे यह जता दूं कि मैं उसका राज़ जान गई हूं और फिर हम सब साथ मिलकर अक्षर सीखना शुरू कर दें। या फिर मैं सब कुछ ऐसा ही छोड़ दूं -- छोटे बच्चों को सीनम की कहानी के सत्र सचमुच बहुत भाते हैं। और टॉल्सटॉय, टैगोर और बाकी सारे महान लोग शायद एक बच्चे के मन में पुनर्परिभाषित होना नापसन्द नहीं करेंगे। आप ही बताएं।

रिनचिन: महिलाओं, स्वास्थ्य व सामाजिक समानता से जुड़े मुद्दों पर काम करने में गहरी रुचि है। भोपाल में रहती हैं।
अनुवाद: टुलटुल बिस्वास। एकलव्य के प्रकाशन कार्यक्रम से संबद्ध।
सभी चित्र: विप्लव शशि: वडोदरा की एम. एस. यूनिवर्सिटी से फाइन आर्ट्स में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने के बाद चित्रकारी में मशगूल।